अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**प्राणादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धन्यवाद व विदाई

स्वाहा॑ प्रा॒णेभ्य॒: साधि॑पतिकेभ्यः । पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॒ग्नये॒ स्वाहा॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ वा॒यवे॒ स्वाहा॑ । दि॒वे स्वाहा॒ सूर्या॑य॒ स्वाहा॑॥१॥

१. गतमन्त्र में अपने को प्रभु के प्रति अर्पण करके व्यक्ति इस संसार से चलने की पूरी तैयारी कर चुका है। इस विदाई के समय वह जिस शरीर व लोक में रहा, जिन-जिनके सम्पर्क में आया, उनसे वह विदा लेता है। उनका धन्यवाद करता है **सु+आह**=उनके लिए उत्तम शब्द बोलता है तथा 'स्व+आह' अपना परिचय देता हुआ विदा लेता है। जिस-जिस वस्तु के साथ उसने **'स्व' पना**=ममता जोड़ा था, उन्हें आज यहाँ छोड़ता है (हा=छोड़ना)।

प्राण=२. सबसे प्रथम **प्राणेभ्यः**=प्राणों के लिए **स्वाहा**=धन्यवाद करता है। शरीर में सोलह कलाओं में सबसे प्रथम इन्हीं का निर्माण हुआ था **'स प्राणमसृजत्**—तै०। इन प्राणों से वह कहता है कि भाई! जब सब सो जाते थे तब भी तुम जागकर पहरा दिया करते थे, तुमने कभी थकने का नाम ही नहीं लिया। **'साधिपतिकेभ्यः'**=तुम्हारा जो अधिपति मन है उस मनसहित तुम्हारे लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। **(मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः**—श० १४।३।२।३)। इस मन के बिना तो कोई कदम कभी रक्खा ही नहीं गया। हे प्राणो! अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ। ३. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस पृथिवी के मुख्य देवता के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। हे पृथिवि! तूने मुझे खाने के लिए अन्न दिया, पहनने के लिए कपड़ा दिया। मातृतुल्य पालन करनेवाली तुझे मैं धन्यवाद न दूँ तो और किसे दूँ। तेरी इस मुख्य देवता अग्नि ने मेरे जीवन में कितना बड़ा भाग लिया! उस कृपा को मैं कभी भूल सकता हूँ? मुझे अब छुट्टी दो, आज मैं आपसे विदाई लेता हूँ। ४. **अन्तरिक्षाय स्वाहा, वायवे स्वाहा**=भाई अन्तरिक्ष ('भ्रातान्तरिक्षम्' अथर्व०)! तेरा भी मैं धन्यवाद करता हूँ और तेरे इस मुख्य देवता वायु के लिए भी मैं शुभ शब्द कहता हूँ। तेरे अन्दर ही मेरी सब क्रियाएँ होती रहीं। 'आना-जाना, भागना-दौड़ना' सब तुझमें ही होता रहा। तेरी वायु यदि एक मिनिट रुकती थी तो मेरा दम ही घुट जाता था,अतः तुम दोनों का भी धन्यवाद करता हुआ मैं आज तुमसे विदाई लेता हूँ। ५. **दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहा**=इस पितृस्थानीय द्युलोक के लिए ('द्यौष्पिता'—अथर्व०) तथा उसके मुख्य देवता सूर्य के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ 'इस द्युलोक ने वृष्टि की व्यवस्था करके किस प्रकार पृथिवी में अन्न उत्पादन की व्यवस्था की' क्या मैं इसे कभी भूल सकता हूँ? सूर्य तो सब प्रजाओं का प्राण ही है, इसने सब प्राणदायी तत्त्वों को अपनी किरणों से उन अन्नों व ओषधियों में स्थापित किया। इस सूर्य के सर्म्पक में ही मैं उत्साहमय जीवन को बिता पाया। आज हे द्युलोक व सूर्य! मैं आपसे विदाई लेता हूँ। फिर भी किसी शरीर में आऊँगा तो मिलना होगा ही, परन्तु आज तो मुझे अब छुट्टी दो।

भावार्थ—हम अपने अन्तिम समय (on death bed) मनसहित प्राणों, अग्निसहित पृथिवी, वायुसहित अन्तरिक्ष तथा सूर्यसहित द्युलोक का धन्यवाद करते हुए इनसे विदा लें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**दिगादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवताओं से विदाई

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा। नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा॥२॥

१. **दिग्भ्यः स्वाहा**=इन दिशाओं के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। इस 'प्राची' ने मुझे (प्र+अञ्च) आगे बढ़ने का पाठ पढ़ाया था तो 'दक्षिण' ने दाक्षिण्य का उपदेश दिया, 'प्रतीची' ने प्रत्याहार का पाठ पढ़ाया और 'उदीची' से मैंने ऊपर उठना सीखा। इन सब दिशाओं का धन्यवाद करता हुआ आज मैं इनसे विदा लेता हूँ। २. **चन्द्राय स्वाहा**=चन्द्रमा के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इस चन्द्रमा ने तो मेरे जीवन को आह्लाद से ओत-प्रोत-सा किया हुआ था। इस चन्द्रमा से भी आज मैं विदाई लेता हूँ। ३. **नक्षत्रेभ्यः स्वाहा**=चन्द्रमा की प्रजाभूत इन नक्षत्रों के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। चन्द्रमा 'नक्षत्रेश' हैं, अतः चन्द्र से विदा लेकर अब इन नक्षत्रों से भी विदा लेनी है। इनसे भी आज मैं विदा होता हूँ। (४) **अद्भ्यः स्वाहा**=जलों के लिए भी धन्यवाद है। ये जन्म से लेकर लय तक मेरे लिए महत्त्वपूर्ण बने रहे। 'आप' अर्थात् मेरे जीवन में सदा व्याप्त-से रहे। 'वारि नामवाले होकर इन्होंने मेरे रोगों का निवारण किया। इनसे भी मैं विदा लेता हूँ। ५. **वरुणाय स्वाहा**=जलों के अधिष्ठातृदेव 'अप्पति'=वरुण के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इसी वरुण के प्रशासन में विविध दिशाओं में नदियों का प्रवाह इस संसार में चलता था और मुझे जल की विविध रूपों में प्राप्ति होती थी। यह वरुण ही मुझे विविध कर्मों के बन्धन में बाँधता था। इससे भी आज मैं विदा चाहता हूँ। ६. **नाभ्यै स्वाहा**=इस शरीर की केन्द्रभूत नाभि के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। 'नह् बन्धने' शरीर का सारा नाड़ी-संस्थान इस नाभिरूप केन्द्र में ही बद्ध था, इस नाभि का भी मैं कृतज्ञ हूँ और इससे भी आज विदा चाहता हूँ। ७. **पूताय स्वाहा**=शरीर में शोधनकार्य में लगी हुई इन 'पायु व उपस्थ' इन्द्रियों के लिए, शरीर के अन्य रोमकूपों के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ और इनसे विदाई लेता हूँ। बड़े-बड़े अफ्सरों से जहाँ विदाई ली जाती है वहाँ चपरासी से भी तो विदा लेनी चाहिए। इसी प्रकार मैं जहाँ चक्षु आदि से व पृथिवी आदि देवों से विदा लेता हूँ, उसी प्रकार इन मलशोधक इन्द्रियों से भी विदा लेता हूँ। इन्होंने शोधनकार्य को मेरे स्वास्थ्य के लिए कितनी सुन्दरता से निभाया!

भावार्थ—आज जीवन के इस अन्तिम दिन मैं सब देवों से व शरीर की नाभि व शोधक अंगों से विदाई लेता हूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वागादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सप्तर्षियों—इन्द्रियों से विदा

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा।
चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा॥३॥

१. **वाचे स्वाहा**=मैं इस वाणी के लिए शुभ शब्द कहता हूँ। इसी के द्वारा जीवनभर मेरा सारा कार्य चला। यही मेरे विचारों का वाहन बनी। इसी के द्वारा मैंने अपनी इच्छाओं

को औरों पर व्यक्त किया। इस वाणी से आज मैं विदा लेता हूँ। २. **प्राणाय स्वाहा**=वाणी के ऊपर स्थित इस घ्राणेन्द्रिय के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। इसके द्वारा मैंने जीवन में आत्मीयता का अनुभव किया। कौन मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, इनके पहचानने में इसने मेरा साथ दिया। **घ्राणाय स्वाहा**=इस घ्राणेन्द्रिय के दूसरे छिद्र के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ, परन्तु आज इन दोनों से ही विदा लेने की तैयारी में हूँ। (३) **चक्षुषे स्वाहा**, प्राण से ऊपर स्थित इस चक्षु के लिए भी धन्यवाद है। इसी ने मुझे सारे जीवन में वस्तुओं का दर्शन कराया। इसके बिना मेरा संसार शून्य-सा ही रहता। ये ही मुझे 'अगला मार्ग साफ़ है या नहीं' इसका ज्ञान देती थीं। 'स्थल है या जल है' यह इन्हीं से मैं देख पाता था। आज मुझे इनसे विदाई लेनी है। **चक्षुषे स्वाहा**=इस बाई आँख के लिए भी धन्यवाद। (४) **श्रोत्राय स्वाहा**, **श्रोत्राय स्वाहा**=मैं इन दोनों श्रोत्रों के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इनसे सुनकर ही मैंने सारा ज्ञान प्राप्त किया। इन्हीं से मेरे विचार औरों ने सुने, उनके विचार मैंने सुने। परस्पर विचार-विनिमय में इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इनके अभाव में मेरा यह संसार कितना विचित्र-सा होता! इनका भी धन्यवाद करता हुआ आज इनसे भी विदा लेता हूँ। सचमुच अब तो हे श्रोत्रो! तुमसे विदा लेकर मुझे ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर ही चले जाना है। आवश्यक हुआ तो फिर मिलेंगे ही, परन्तु आज तो विदाई दो ना?

भावार्थ—आज अन्तिम दिन मैं इन सप्तर्षियों से, जिन्होंने मुझे सदा इस संसार का ज्ञान दिया, विदा लेने लगा हूँ। इनका धन्यवाद तो मैं करता ही हूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

यश और श्री

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।

पशूनाꣳरूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥४॥

जाती हुई आत्मा यह चाहती है कि वह मुक्त हो जाए, अतिदीर्घ काल तक अगला जन्म न लेना पड़े, वह परमेश्वर के साथ विचरनेवाली बने, परन्तु यदि जन्म लेना ही पड़े तो इसकी प्रार्थना निम्न शब्दों में होती है—

१. मैं **मनसा**=मन से **कामम्**=पर्याप्त **आकूतिम्**=सङ्कल्प को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरा मन उत्तमोत्तम कार्यों के सङ्कल्पवाला हो। यह तो ठीक है कि मैं काममय न हो जाऊँ, परन्तु जड़ वस्तुओं की भाँति अकाम भी न हो जाऊँ। मेरा मन सदा शुभ सङ्कल्पों से भरा रहे।

२. मैं **वाचः**=वाणी की **सत्यम्**=यथार्थता को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरी वाणी यथार्थ हो। इतना ही नहीं कि मैं अर्थ के अनुसार बोलनेवाला होऊँ, अपितु मेरी वाणी के अनुसार अर्थ हो जाए ३. **पशूनाम् रूपम्**=मैं पशुओं के रूप को प्राप्त करूँ। आचार्य एक जगह 'रूप' शब्द पर लिखते हैं कि 'विषयासक्ति, कुपथ्य और अधर्माचरण को छोड़कर अपने स्वरूप को अच्छा रखना। पशुओं का जीवन सादा है। उनके खानपान में जटिलता नहीं। परिणामतः उनका जीवन स्वस्थ बना रहता है। हम भी उनकी भाँति विषयासक्ति आदि से बचकर स्वस्थ बनने का प्रयत्न करें। ''रूपम् रोचतेः' निरुक्त (२.३) के इन शब्दों के अनुसार मैं स्वास्थ्य की दीप्तिवाला बनूँ। 'सादा जीवन' यह मेरा उद्देश्य-वाक्य बने और मैं स्वास्थ्य व दीर्घ-जीवन का लाभ करूँ।

५. **अन्नस्य रसः**=इस स्वास्थ्य के लिए ही मैं अन्न के रस का सेवन करूँ। व्यर्थ के

अभक्ष्य मांस आदि के झगड़े में न पड़ जाऊँ। साथ ही अन्न को खूब चबाकर खाऊँ। उसको रसरूप में अन्दर ले-जाऊँ। इस सात्त्विक भोजन के परिणामस्वरूप मेरी वृत्ति भी सात्त्विक बनी रहे। ६. **मयि**=मुझमें **यशः**=यश और **श्रीः**=शोभा **श्रयताम्**=आश्रय करें। मेरा प्रत्येक कार्य यशस्वी और श्रीसम्पन्न हो। मैं किसी भी कार्य को अनाड़ीपन से न करूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन उत्तम संकल्पोंवाला, सत्यमय, स्वस्थ, सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला तथा यश और श्री से युक्त हो।

सूचना—'श्री' का अर्थ धन भी होता है। मैं अपने जीवन में उचित व आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। धन का अभाव मेरी परेशानी का कारण न बने।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

उत्तम कर्म—श्रेष्ठ जन्म

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः संसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेजऽ-उद्यतऽआश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्पन्दमाने मारुतः क्लथन्।
मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाणऽआग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः॥५॥

प्रस्तुत मन्त्र में कौन व्यक्ति किस प्रकार का जन्म लेता है यह वर्णन है। सामान्यतः १२ भागों में बाँटकर यह बात यहाँ प्रस्तुत की गई है। १. **सम्भ्रियमाणः**=जिस व्यक्ति में 'माता-पिता अचार्य-अतिथि' आदि देवों ने अच्छाई को भरने को प्रयत्न किया—जो अच्छाइयों से भरा हुआ रहा वह **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक—उत्तम सन्तानोंवाला, अर्थात् एक सद्गृहस्थ बनता है। २. **सम्भृतः**=जिसके अन्दर सब उत्तमताओं को भर दिया गया वह **सम्राट्**=सम्राट् बनता है। राष्ट्र में सबसे अधिक दीप्त होनेवाला व्यक्ति समझा जाता है। ३. **संसन्नः**=जो सभा आदि स्थलों में सम्यक्तया आसीन होता है, अर्थात् जिसका व्यवहार उस-उस स्थान में उत्तम होता है वह **वैश्वदेवः**=सब दिव्य गुणोंवाला होता है। ४. **प्रवृक्तः**=जो वासनाओं का अधिक-से-अधिक वर्जन करनेवाला बनता है वह **घर्मः**=(**घर्म**=सोम) सोम का **पुञ्ज**=वीर्यवान् बनता है। ५. **उद्यतः**=आलस्य से विहीन, सदा कर्मों में उद्यत व्यक्ति **तेजः**=तेजस्वी बनता है। ६. **पयसि आनीयमाने**=घर में सदा दूध के लाये जाने पर **आश्विनः**=पति-पत्नी दोनों ही प्राणापान सम्पन्न होते हैं, अर्थात् इनकी प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। ७. **विष्पन्दमाने**=(वि, स्पन्द) विशेषरूप से सदा क्रियाशील बने रहने पर **पौष्णः**=यह पूषा देवतावाला होता है, अर्थात् सदा पुष्ट शरीरवाला होता है। ८. **क्लथन्**=सब अशुभों की—अशुभ विचारों व भावनाओं की हिंसा करता हुआ **मारुतः**=मितरावी—बड़ा परिमित बोलनेवाला बनता है। अथवा **'मरुतः प्राणः'**=प्राणशक्ति का पुञ्ज बनता है। ९. **शरसि सन्ताय्यमाने**=सतत काम-क्रोध, राग-द्वेष की हिंसा चलने पर (**तायृ**=**सन्तान**=फैलाना), अर्थात् राग-द्वेष से ऊपर उठने के सतत प्रयत्न होने पर **मैत्रः**=सबके साथ मित्रता की भावनावाला होता है। सबके साथ स्नेह से चलनेवाला होता है। जन्म से ही स्नेह की भावनावाला होता है। १०. **ह्रियमाणः**=जो प्रतिक्षण लोगों से अपने-अपने कार्यों को संवारने के लिए ले-जाया जाता है, अर्थात् कभी कहीं और कभी कहीं भिन्न-भिन्न लोगों के कार्य में सहायता के लिए जाता है, वह **वायव्यः**=वायु तत्त्व की प्रधानतावाला होने से निरन्तर गतिशील और इस गतिशीलता से पवित्रता को पैदा करनेवाला होता है। ११. **हूयमानः**=जो दान आदि के द्वारा निरन्तर अपनी आहुति देता रहता है वह **आग्नेयः**=अग्नितत्त्व प्रधान

होता है। अग्नि के समान तेजस्वी व प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। १२. **हुतः**=जो प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, जो लोगों के हित में अपनी पूर्ण आहुति दे देता है, वह **वाक्**=वेदवाणी का पुञ्ज, सरस्वती—ज्ञान की देवता का ही पुतला-सा बनता है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्म करनेवाले बनें, जिससे हमारा अगला जन्म उत्तम हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**सवितादयः**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

दैवीसंपत्-युक्त ज्ञान के दृष्टिकोण से उत्तम जन्म

सवि॒ता प्र॑थ॒मेऽह॑न्नग्नि॒र्द्वि॒तीये॑ वा॒युस्तृ॒तीय॑ऽआदि॒त्यश्च॑तु॒र्थे च॒न्द्रमाः॑ पञ्च॒मऽऋ॒तुः ष॒ष्ठे म॒रुतः॑ सप्त॒मे बृ॒हस्पति॑रष्ट॒मे। मि॒त्रो न॑व॒मे वरु॑णो दश॒मऽइन्द्र॑ऽएकाद॒शे विश्वे॑दे॒वा द्वा॑द॒शे॥६॥

पिछले मन्त्र में उत्तम कर्मों व गुणों के दृष्टिकोण से जन्म का विचार हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञान के दृष्टिकोण से जन्म का विचार चलता है। जैस ज्योतिश्चक्र को बारह भागों में बाँटकर सूर्य की बारह संक्रान्तियाँ होती हैं उसी प्रकार ज्ञान की भी बारह श्रेणियों की कल्पना करके जीव के भी बारह संक्रमणों—भावी पुनर्जन्मों का यहाँ उल्लेख हुआ है। ये सबके सब जन्म दैवी सम्पत्तिवाले हैं।

यहाँ मन्त्र में 'अहन्' शब्द आकाश (Sky) के लिए प्रयुक्त हुआ है। १. **प्रथमे अहन्**=जो व्यक्ति ज्ञान के आकाश के प्रथम विभाग में है, वह **सविता**=उत्पादक होता है। यह जन्म से ही निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला होता है। तोड़-फोड़ के कार्यों में इसका झुकाव नहीं होता। २. **द्वितीये**=ज्ञान के आकाश के द्वितीय भाग में विचरनेवाला **अग्निः**='अग्रेणी' निरन्तर उन्नतिशील मनोवृत्तिवाला होता है। ३. **तृतीये**=ज्ञान की तृतीय श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वायुः**=अपने अगले जन्म में (वा गतिगन्धनयोः) अपनी गति के द्वारा बुराई का गन्धन=हिंसन करनेवाला होता है ४. **चतुर्थे**=ज्ञान की चतुर्थ कक्षा में वर्त्तमान व्यक्ति **आदित्यः**=(आदानात्) सदा अच्छाइयों का आदान करनेवाला होता है। यह खारे समुद्र में से भी शुद्ध जल को ही लेनेवाले सूर्य की भाँति अच्छाई को ही लेता है, बुराई को नहीं। कीचड़ में से भी जल को ही लेनेवाले सूर्य के समान यह कीचड़ व बुराई को वहीं छोड़ देता है। ५. **पञ्चमे**=ज्ञान की पञ्चम कक्षा में पहुँचने पर यह **चन्द्रमाः**=सदा चन्द्र के समान आह्लादमय मनोवृत्तिवाला होता है ६. **षष्ठे**=ज्ञान की छठी श्रेणी में पहुँच चुके व्यक्ति का अगले जन्म में मुख्य गुण **ऋतुः**=ऋतुओं के अनुसार नियमित गति होता है'। 'ऋ धातु' का अर्थ है गति। इस धातु से बना हुआ 'ऋतु' शब्द नियमित गति का संकेत करता है। ज्ञानी पुरुष सूर्य-चद्रमा की भाँति अथवा ऋतुओं के चक्र की भाँति अपने नैत्यिक कार्यक्रम में व्यवस्थित होता है। ७. **सप्तमे**=ज्ञान की सप्तमी कक्षा में पहुँचे हुए व्यक्ति **मरुतः**=(मरुतः प्राणाः, मितराविणो वा) प्राणशक्ति के पुञ्ज व मितरावी होने से बड़ा मपा-तुला ही बोलते हैं। ८. **अष्टमे**=अष्टम विभाग में पहुँचे हुए व्यक्ति **बृहस्पतिः** =**ब्रह्मणस्पतिः**=बड़े ऊँचे ज्ञानी बनते हैं—ब्रह्मदर्शन करनेवाले बनते हैं। ९. **नवमे**=अब ज्ञान की नवम श्रेणी में पहुँचा हुआ यह व्यक्ति **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला होता है। प्रभु का उपासक सर्वत्र समरूप से अवस्थित प्रभु को देखता है, अतः सभी के प्रति स्नेहवाला होता है। १०. **दशमे**=ज्ञान की दशम श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वरुणः**=वरुण होता है—द्वेष का निवारण करनेवाला अथवा (**वरुण**=पाशी) अपने-आपको व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाला होता है। ११. **एकादशे**=ज्ञान की ग्यारहवीं श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति अगले जन्म में **इन्द्रः**='इन्द्रियों

का अधिष्ठाता–पूर्ण जितेन्द्रिय' होता है। १२. **द्वादशे**=ज्ञानकी बारहवीं व अन्तिम श्रेणी में पहुँचा हुआ व्यक्ति **विश्वदेवाः**=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बन जाता है और इस प्रकार 'पूर्ण दैवी सम्पत्ति' को प्राप्त करता है। यह दैवी सम्पद् इसके मोक्ष का कारण बनती है। इस प्रकार वह चरम-ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्त होकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ–''उत्पादक मनोवृत्ति, उन्नति की भावना, क्रियाशीलता, गुणों का आदान, मनःप्रसाद, नियमित कार्यक्रम, प्राणशक्ति व मितभाषण, ज्ञान, स्नेह, निर्द्वेषता व व्रतबन्धन, जितेन्द्रियत्व और दिव्यता=दान-दीपन-द्योतन'–यह है दैवी सम्पत्ति, जिसको लेकर ज्ञानमार्ग पर आगे बढ़नेवाले व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और अन्त में मोक्ष का लाभ करते हैं।

ऋषिः–**दीर्घतमाः**। देवता–**मरुतः**। छन्दः–**भुरिग्गायत्री**। स्वरः–**षड्जः**।

'आसुरी संपद्' वाला जन्म

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥७॥

दैवी सम्पत्तिवालों का जन्म गतमन्त्र का विषय था। जो उस दैवी सम्पत्ति को प्राप्त नहीं कर पाये और उसके स्थान में आसुरी संपत्ति को लेकर जिनका जन्म होता है वे १. **उग्रः च**=बड़े उग्र स्वभाववाले होते हैं। ये निर्दयी व कठोर होते हैं। बड़े क्रोधी स्वभाव के होते है। २. **भीमः च**=समाज के लिए ये बड़े भय का कारण होते हैं। इनकी दुर्जनता सज्जनों के निवास को भयपूर्ण बना देती है। इनके कारण सज्जनों के लिए प्रतिक्षण संकट की आशंका बनी रहती है। ३. **ध्वान्तः च**=इनका जीवन अन्धकारमय होता है। अथवा 'ध्वन शब्दे' ये सदा शोर-शराबा मचाये रखते हैं। ये पति-पत्नी भी सदा लड़ाई-झगड़े का जीवन बिताते हैं lead a cat and dog life. ४. **धुनिः च**=ये औरों को अपनी दुष्टता से कम्पित करनेवाले होते हैं। ५. **सासह्वाँन् च**=ये निरन्तर औरों का पराभव करनेवाले–औरों को कुचलनेवाले होते हैं। घात-पात में प्रवृत्त रहते हैं। ६. **अभियुग्वा च**=ये अपने दायें-बायें सभी ओर आक्रमण करनेवाले–चारों ओर आतंक फैलानेवाले होते हैं। ७. **विक्षिपः**=(वि-क्षिप) ये विक्षिप्त-सी मनोवृत्तिवाले होते हैं। इनमें केन्द्रित बुद्धि का प्रश्न ही नहीं होता। सैकड़ों आशाजालों से बद्ध ये पुरुष होते हैं। 'यह मिल गया और यह मिल जाएगा' इसी प्रकार ये विक्षिप्त वृत्तिवाले बने रहते हैं। अन्ततः ये आधे पागल-से हो जाते हैं। **स्वाहा**=यह यथार्थ वर्णन है।

भावार्थ–आसुरी सम्पत्तिवाले 'उग्रस्वभाव के, लोक-भयंकर, अज्ञानी, औरों को कम्पित करनेवाले, दूसरों को कुचलनेवाले, उनपर आक्रमण करनेवाले व विक्षिप्त-से' होते हैं।

ऋषिः–**दीर्घतमाः**। देवता–**अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः–**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः–**गान्धारः**।

आनन्दमय जीवन का रहस्य (The nine Secret of a Happy life)

अग्निꣳहृदयेनाशनिꣳहृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना।
शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तः पर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना
वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम्॥८॥

'हम अपने जीवन को सुखी कैसे बना सकते हैं। इस विषय का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि–१. **हृदयेन**=हृदय से **अग्निम्**=अग्नि को धारण करो। **अग्नि** का अर्थ है–शक्ति व उत्साह। (Vigour, enthusiasm) आनन्दमय जीवन के लिए पहली आवश्यक

बात हृदय में उत्साह का होना है। हृदय के उत्साहशून्य होने पर आनन्द का प्रश्न ही नहीं उठता। २. **हृदयाग्रेण** हृदय के अग्रभाग से **अशनिम्**=विद्युत् की दीप्ति को धारण करो। तुम्हारा हृदयाग्र विद्युत् की दीप्ति के समान चमके। कोई भी व्यक्ति तुम्हारे सामने आये तो तुम उसे समझ सको, तुम्हारा हृदयाग्र पर उसका प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाए। प्रत्येक व्यक्ति को हम ठीक-ठीक समझेंगे तो यथोचित बर्ताव कर सकने से किसी उलझन में न पड़ेंगे। ३. **पशुपतिम्**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभु को **कृत्स्नहृदयेन**=पूर्ण हृदय से धारण करें। प्रभु का यह ध्यान हृदय में उत्साह व शक्ति का संचार करनेवाला होता है। ४. **यक्ना**=जिगर से **भवम्**=पर्जन्य को धारण करो। पर्जन्य **परां तृप्तिं जनयति**=परातृप्ति को पैदा करता है, चारों ओर जल की वर्षा करता हुआ सभी को आनन्दित करता है। इसी प्रकार ठीक जिगरवाला व्यक्ति सभी को देता हुआ प्रसन्नता उत्पन्न करता है। इस तथ्य को 'इसका जिगर ही नहीं है, यह क्या देगा' यह मुहावरा स्पष्ट कर रहा है। ५. **मतस्नाभ्याम्**=हृदय के दोनों पासों में स्थित अस्थियों से **शर्वम्**='आपः' जलों को धारण करो। इनके कार्य के ठीक होने पर ही शरीर में जल की उचित स्थिति रहती है। ६. **मन्युना**=(मन=चिन्तन) चिन्तन से **ईशानम्**=आदित्य को धारण करो। आदित्य का चिन्तन करो। आदित्य की भाँति निरन्तर गुणों का आदान करनेवाले बनो। ७. **अन्तः पर्शव्येन**=भीतरी पसवाड़ों से **महादेवम्**=चन्द्र को (महादेवश्चन्द्रमाः) धारण करो। आह्लाद व प्रसन्नता के लिए पार्श्वों का मध्य, अर्थात् आमाशय का ठीक होना अवश्यक है। ८. **वनिष्ठुना**=आँतों rectums से **उग्रंदेवम्**=जठराग्नि-वैश्वानराग्नि को धारण करो। यह 'उग्रदेव' आँतों में होनेवाले कृमियों का संहार करके हमें स्वस्थ बनाता है। ९. **कोश्याभ्याम्**=कोश (Scrotum) में होनेवाले अण्डों (testicles) से **वसिष्ठहनुः**=(प्रजापतिर्वै वसिष्ठः, प्रजननं प्रजापतिः, **हनुः=गदा**=Goad.) प्रजननशक्ति का धारण करे। तथा **शिङ्गीनि=वज्रानि**= रोग-निवारक शक्तियों को धारण करो। वस्तुतः इन कोश्यों से निकलनेवाले रस प्रजननशक्ति के साथ रोग-निवारक शक्ति भी रखते हैं। इनके निकाल देने पर शरीर में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

भावार्थ—जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए उपर्युक्त नौ बातें ध्यान देने योग्य हैं १. हृदय में उत्साह २. हृदयाग्र में दीप्ति ३. पूर्णहृदय में प्रभु-ध्यान ४. जिगर में पर्जन्य की तरह दानवृत्ति ५. गुर्दों में जल ६. मन्यु से आदित्य ७. आमाशय के ठीक होने से प्रसन्नता ८. आँतों में कृमिसंहारक शक्ति तथा ९. कोश्यों (testicles) में प्रजननशक्ति व रोग-निवारक रस होने पर जीवन आनन्दमय बन जाता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**उग्रादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

कार्य-कुशलता

उग्रं लोहितेन मित्रꣳसौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यꣳरुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यक्ऽच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत्॥९॥

संसार में 'जीवन का आनन्द' बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम लोगों से कैसे वर्त्तते हैं। यदि हम कुशलता (Carefully) से चलते हैं तो हमें सफलता-ही-सफलता मिलती है और सफलता आनन्द का मूल है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'भिन्न-भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों से किस-किस प्रकार वर्त्तना' इस बात का उपदेश है। १. **उग्रम्**=उग्रस्वभाव वाले—सीधे लड़ाई पर उतर आनेवाले पुरुष को **लोहितन**=युद्ध से स्वानुकूल करे। (लोहितं

युद्धम्, लोहा लेना—युद्ध करना)। उग्र स्वभाववाला पुरुष युद्ध के अतिरिक्त अन्य भाषा को समझता ही नहीं। २. **मित्रम्**=मित्र को **सौव्रत्येन**=उत्तम व्रत से स्वानुकूल बनाये रक्खे। उत्तम व्रत यही है कि सुख-दुःख में अभिन्न होना (अद्वैतं सुखदःखयोः)। कष्ट में साथ न छोड़ना ३. **रुद्रम्**=रुलानेवाले को—तंग करनेवाले को **दौर्व्रत्येन**=दुष्कर व्रतों से, आमरण अनशनादि से अनुकूल करे। ४. **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशालियों को **प्रक्रीडेन**=खेलकूद व आमोद-प्रमोद के साधनों से स्वानुकूल करे। ५. **मरुतः**=सैनिकों को—बलप्रधान व्यक्तियों को **बलेन**=बलके द्वारा अनुकूल करे। ये बल-प्रधान छह फुटे सिपाही पतले-दुबले व्यक्ति से शीघ्र प्रभावित नहीं हो सकते। ६. **साध्यान्**=साधनीय पुत्र-शिष्यादि को **प्रमुदा**=प्रसन्नता से अनुकूल करे। इनके जीवन को डाँट-डपट से उत्तम नहीं बना सकते। धर्म का उपदेश भी माधुर्य व अहिंसा से ही दिया जा सकता है। ७. उल्लिखित रूप से व्यवहार कुशल भी वही व्यक्ति बन सकता है, जो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ हो। यह शरीर का स्वास्थ्य शरीर में होनेवाली जिन मौलिक बातों पर निर्भर करता है उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **भवस्य**=दीर्घजीवन (भू=होना, बने रहना) का कारण **कण्ठ्यम्**=कण्ठ में होनेवाली थायराईड ग्रन्थि है। इसके ठीक रहने से जीवन स्वस्थ व दीर्घ बनता है। (ख) **रुद्रस्य**=अग्नि का व उद्रहरिकाम्ल का स्थान **अन्तः पार्श्व्यम्**=पसवाड़ों के अन्दर का भाग है। वहाँ इसके ठीक मात्रा में होने से स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। (ग) **महादेवस्य**=चन्द्र का—आह्लाद की देवता का स्थान **यकृत्**=जिगर है। इसके ठीक कार्य करने पर चित्त की प्रसन्नता बहुत कुछ निर्भर है (महादेवश्चन्द्रमाः)। (घ) **शर्वस्य**=जल का स्थान **वनिष्ठुः**=आँते हैं। स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि इन्हें जल से शुद्ध रक्खा जाए। पावभर पानी से दैनिक ऐनिमा इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है (ङ) और सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि हम इस बात को स्मरण रक्खें कि **पशुपतेः**=(पशुपतिः ओषधयः) ओषधियों की यह **पुरीतत्**=आँत है, अर्थात् आँतों में ओषधियाँ ही जाएँ, वहाँ मांसादि अवानस्पतिक भोजन न पहुँचे। वस्तुतः जीवन को शान्त-स्वभाव का बनाने के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक है। मांस भोजन से क्रूरता उत्पन्न होती ही है।

भावार्थ—हम कुशलतापूर्वक व्यवहार करते हुए तथा स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन के नियमों का पालन करते हुए अपने जीवन को सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

स्वास्थ्य के लिए उत्तम अदनीय (भक्ष्य) अन्न का सेवन

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा। माꣳसेभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा ॥१०॥

'जीवन का आनन्द स्वास्थ्य पर निर्भर करता है, इस विषय में मतभेद नहीं है। यह स्वास्थ्य भोजन पर निर्भर है। भोजन ऐसा होना चाहिए जो रस से लेकर अन्तिम धातु 'रेतस्' तक सभी के लिए हितकर हो। इस प्रकरण में 'स्वाहा' शब्द का अर्थ है 'सु हविः जुहोति' (**हविः**=अत्तव्यम् अन्नम्—द०)=उत्तम अदनीय अन्न को यज्ञों में विनियुक्त करके यज्ञशेष अमृत को उदर की जाठराग्नि में डालता है। १. **लोमभ्यः स्वाहा, लोमभ्यः**

स्वाहा=एक-एक लोम के हित के लिए यह भोजन खाया जाए। भोजन के विकार के कारण ही गञ्जापन आदि रोग हो जाते हैं। दो बार कहने का अभिप्राय यही है कि 'एक-एक लोम के लिए, अर्थात् प्रत्येक लोम के लिए' भोजन ऐसा हो जो लोम-सम्बधी किसी रोग का कारण न बन जाए। २. **त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा**=त्वचा-त्वचा के लिए, अर्थात् सारी त्वचा के लिए हितकर भोजन किया जाए। त्वचा के भिन्न-भिन्न रोग जो कुष्ठ नाम से कहे जाते हैं हमारा भोजन उनका कारण न बन जाए। ३. **लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा**=सम्पूर्ण रुधिर के हित के लिए हमारा भोजन हो। भोजन ऐसा न हो जिससे कि रुधिर-विकार उत्पन्न हो जाएँ। ४. **मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा**=चरबी (Fat) के उचितरूप में होने के लिए भोजन किया जाए। भोजन में स्नेह का नितान्त अभाव हमारे शरीर को अतिदुर्बल बनाएगा, तो स्नेह का आधिक्य उसे बहुत भारी-सा बनाएगा, अतः 'मेदस्' के हित के दृष्टिकोण से ही भोजन किया जाए। ५. **मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा**=शरीर के सम्पूर्ण मांस के हित के लिए ही भोजन का सेवन किया जाए। मांस-भोजन से मांस मर्यादा से अधिक बढ़ जाता है, वह कभी हितकर नहीं हो सकता। ६. **स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा**=सारे स्नायु-संस्थान के हित के लिए भोजन हो। यदि इस बात का ध्यान रक्खा जाए तो रक्तचाप के आधिक्य आदि के रोग हों ही नहीं। ७. **अस्थभ्यः स्वाहा अस्थभ्यः स्वाहा**=भोजन ऐसा हो जो एक-एक अस्थि के लिए हितकर हो। भोजन में केल्शियम की मात्रा उचित रूप में हो ताकि अस्थियों का विकास ठीक से हो पाये ८. **मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा**=भोजन मज्जा के लिए भी हितकर हो। ऐसा न होने पर दिमाग की कमी आदि की आशंका रहती है। पागलपन का भी यह कारण हो सकता है। ९. **रेतसे स्वाहा**=अन्तिम धातु **रेतस्**=वीर्य है। इसके लिए हितकर सौम्य भोजन ही हमें खाने चाहिएँ। आग्नेय भोजनों का सेवन रेतस् के लिए हितकर नहीं होता। १०. **पायवे स्वाहा**=सबसे अन्तिम, पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भोजन **पायु**=मलशोधक इन्द्रिय के लिए हितकर हो। हम कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाले भोजनों से सदा बचें।

भावार्थ—भोजन के विषय में यह ध्यान रखा जाए कि वह लोमों से लेकर वीर्य तक शरीर की सब धातुओं के लिए हितकर हो तथा कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाला न हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रयत्न व पवित्रता

आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा। शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा॥११॥

जहाँ भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर हो वहाँ भोजन ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को आलस्यशून्य व पवित्र इच्छाओंवाला बनाने में सहायक हो। ऐसा ही भोजन सात्त्विक भोजन कहलाता है। १. **आयासाय**=सब आवश्यक कार्यों में श्रम (All round excertion) के लिए मैं उत्तम अदनीय अन्न खाता हूँ। २. **प्रायासाय स्वाहा**=प्रकृष्ट उद्योग के लिए मैं अदनीय अन्न का सेवन करता हूँ। मुझमें क्रियाशीलता हो, वह क्रियाशीलता उत्तम कार्यों में टपके। ३. **संयासाय स्वाहा**=मिलकर किये जानेवाले उद्योगों के लिए मैं अदनीय अन्नों का सेवन करता हूँ। मैं ऐसा अन्न खाऊँ जिससे मैं औरों के साथ मिलकर उद्योग कर सकूँ। ४. **वियासाय स्वाहा**=विविध प्रयत्नों या वैयक्तिक प्रयत्नों के लिए मैं हितकर भोजन

करनेवाला बनूँ। ५. **उद्यासाय स्वाहा**=मैं उत्कृष्ट उद्योगों के लिए हितकर भोजन करूँ। मेरा भोजन ऐसा हो जो निरन्तर मुझे ऐसे उद्योगों में लगाये जो मुझे ऊँचा ले-जानेवाले हों। ६. वैशेषिकदर्शन में भी कर्म पाँच भागों में विभक्त हुआ है। यहाँ भी पाँच भाग हैं। नामों व स्वरूप में कुछ अन्तर हो गया है। इस विचार को चार भागों में बाँटते हैं—(क) पवित्रता की इच्छा (ख) पवित्रता के प्रयत्न में लगना (ग) पवित्रता को स्वभाव बना लेना (घ) और अन्त में पवित्र हो जाना। इसको क्रमशः कहते हैं—**शुचे स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए भोजन करता हूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझमें पवित्रता की भावना जगाए। **शोचते स्वाहा**=अपने को पवित्र बनाने के लिए मैं भोजन करूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पवित्रता-सम्पादन की क्रिया में लगाये। **शोचमानाय**=पवित्रता जिसका स्वभाव बन गया है, ऐसा बनने के लिए मैं सात्त्विक भोजन का सेवन करता हूँ। अन्न ऐसा हो जो मेरे स्वभाव में पवित्रता लाये। मेरे लिए पवित्रता स्वाभाविक बन जाए और अन्त में **शोकाय स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए अन्न खाऊँ। अन्न ऐसा हो कि मैं शरीरबद्ध पवित्रता ही हो जाऊँ।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन हमारे जीवन में प्रयत्नशीलता व पवित्रता का संचार करनेवाला हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तप—भोजन-दर्शन

तपसे॒ स्वाहा॒ तप्यते॒ स्वाहा॒ तप्यमानाय॒ स्वाहा॑ त॒प्ताय॒ स्वाहा॑ घ॒र्माय॒ स्वाहा॑। निष्कृ॑त्यै॒ स्वाहा॒ प्रायश्चित्यै॒ स्वाहा॑ भेष॒जाय॒ स्वाहा॑॥१२॥

१. जिस प्रकार पिछले मन्त्र में पवित्रता के विषय में कहा गया है उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में तप के विषय में कहते हैं। तप का विचार भी उसी प्रकार चार भागों में बाँटकर करते हैं कि (१) तप की रुचि (२) तप में लगना (३) तप को अपना स्वभाव बना लेना और (४) अन्त में तपोमय हो जाना। **तपसे स्वाहा**=तप के लिए मैं (सु हविः जुहोमि) उत्तम हविरूप अन्न ही खाता हूँ। यदि मनुष्य सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता है तो उसकी प्रवृत्ति भोगप्रवण न होकर तपस्या की ओर झुकती है। **तप्यते स्वाहा**=तप करते हुए के लिए हम उत्तम अन्न का प्रयोग करते हैं, अर्थात् मैं ऐसा ही अन्न खाता हूँ जो मुझे तप में लगाये रखता है। **तप्यमानाय स्वाहा**=मैं ऐसे अन्न का सेवन करूँ कि तप मेरा स्वभाव हो जाए। **तप्ताय स्वाहा**=मैं तप ही हो जाऊँ, इसी प्रकार मूर्त्तिमान् तप बन जाने के लिए मैं उत्तम हविरूप अदनीय अन्न खाता हूँ।

२. इस प्रकार तपोमय जीवन का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अन्दर शक्ति का सञ्चार हो, अतः कहते हैं कि **घर्माय स्वाहा**=सोम के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। वस्तुतः सौम्य व आग्नेय भोजनों में से सौम्य भोजन को ही प्रधानता देना ठीक है। आग्नेय भोजन कभी भी सोम-रक्षा के लिए और परिणामतः नीरोगता व दीर्घजीवन के लिए हितकर नहीं होते। हम सोमरक्षा के दृष्टिकोण से भोजन खाते हैं। ३. **निष्कृत्यै स्वाहा**=सब प्रकार के प्रायश्चित्त के लिए, भविष्य में पाप न करने के निश्चय की दृढ़ता के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। **प्रायश्चित्यै स्वाहा**=मुझमें पाप कर बैठने के लिए दुःख की भावना हो, उन्हें भविष्य में न करूँ, ऐसी वृत्ति बनाने के लिए मैं सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता हूँ। 'जिनकी मैं हानिकर बैठा हूँ, उनकी मैं क्षतिपूर्ति कर दूँ' यह है 'निष्क्रय', 'आगे से नहीं करूँगा' यह है 'प्रायश्चित्त'—ये भावनाएँ हमारे अन्दर होनी ही चाहिएँ। ४. **भेषजाय**

स्वाहा=अन्त में मैं औषध के दृष्टिकोण से भोजन करूँ। भूख भी एक रोग है, उसकी निवृत्ति के लिए ही भोजन करना चाहिए। स्वाद के लिए भोजन करना पाप है।

भावार्थ—भोजन ऐसा हो जो मुझे तपस्वी बनाए, शक्तिशाली बनाए, पापों के लिए मैं प्रायश्चित्त की वृत्तिवाला बनूँ और अन्त में भोजन को मैं औषध समझूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अर्पण

यमाय॒ स्वाहान्तका॒य॒ स्वाहा॑ मृत्यवे॒ स्वाहा॑। ब्रह्म॑णे॒ स्वाहा॑ ब्रह्महत्या॒यै॒ स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्य॒ः स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ꣳस्वाहा॑॥१३॥

१. 'स्वं जुहोति इति स्वाहा', इस व्युत्पत्ति से 'स्वाहा' का अर्थ है समर्पण। मन्त्र में कहते हैं कि **यमाय स्वाहा**=शिष्य के जीवन को नियम में रखनवाले यम=आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य उन विद्यार्थियों के जीवन को बड़ा नियमित (Disciplined) बना देता है। हम **अन्तकाय**=अज्ञानान्धकार का अन्त करनेवाले अथवा अशुभवृत्तियों का अन्त करनेवाले आचार्य के लिए **स्वाहा**=अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य-चरणों में रहकर वह सदाचारी बनेगा ही। आचार्य की व्युपत्ति ही है 'आचारं ग्राहयति', इस प्रकार अशुभ जीवन को समाप्त करनेवाला आचार्य 'मृत्यु' ही है। इस **मृत्यवे**=मृत्यु नामक आचार्य के लिए **स्वाहा**=हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य पिछले जन्म को समाप्त कर नया जन्म देता है। इस प्रकार हम 'द्वि-ज' बन जाते हैं। वस्तुतः यही जन्म उत्कृष्ट जन्म होता है। **ब्रह्मणे स्वाहा**=हम ऐसे आचार्यों के समीप सन्तानों को छोड़ते हैं जो ब्रह्म=ज्ञान के पुञ्ज हैं। इन ज्ञान के समुद्रों में स्नान करके विद्यार्थी 'निष्णात व स्नातक' बनता है। ज्ञान की कमी होने पर अध्यापक के प्रति विद्यार्थी के हृदय में आदर की भावना भी कठिनता से उत्पन्न होती है।

२. एवं 'यम-अन्तक-मृत्यु व ब्रह्म' नामक आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। 'क्यों सौंपते है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है कि (क) **ब्रह्महत्यायै** (**ब्रह्म**=ज्ञान **हन्**=प्राप्ति नकि हिंसा)=ज्ञान की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य से प्राप्त की हुई विद्या 'साधिष्का' होती है। ब्रह्मचारी आचार्य से ही ज्ञान का भोजन प्राप्त करता है। आचार्य का मूलकर्त्तव्य ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि में पृथिवी-अन्तरिक्ष-व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की समिधाओं को डालना है। (ख) **विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा**=सब दिव्य गुणों से विभूषित करने के लिए समर्पित करते हैं। (ग) **द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**=हम मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) के स्वास्थ्य के लिए सन्तान को आचार्य-चरणों में छोड़ते हैं। आचार्य इसके शारीरिक स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए, इसे ज्ञान की समिधा से समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान देता है, सद्गुणों से अलंकृत करता है तथा अव्यसनी बनाकर स्वस्थ शरीरवाला बनाता है।

इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥